

## स्कूली किताबें और अंधश्रद्धा रोहित धनकर

यह वक्तव्य राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों पर आयोजित राज्य स्तरीय सम्मेलन में दिया गया है। शिक्षा और लोकतंत्र का क्या संबंध है ? इस संदर्भ में इस वक्तव्य में कहा गया है कि हमारे पुराने शिक्षा नीति सम्बन्धी दस्तावेज शिक्षा के माध्यम से विवेकशील इंसान की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं और इसे लोकतंत्र के लिए आवश्यक मानते हैं। लेकिन ये किताबें विवेकशीलता के स्थान पर मतारोपण को बढ़ावा देती हैं और बच्चों को अंधश्रद्धा की ओर ले जाती हैं।

**बी**स-पच्चीस मिनट में मैं कुछ चीजें आपके सामने रखने की कोशिश करूंगा और फिर हम उस पर चर्चा करेंगे। मैं समझता हूँ विनोद जी ने मेरा काम आसान कर दिया है और चर्चा को एक जगह ला दिया है। मैं इस चर्चा को इससे आगे बढ़ाने की कोशिश करूंगा। मुझे जो शीर्षक दिया गया है-‘स्कूली किताबें और बच्चों के दिमाग पर कब्जे की कोशिश’ उसे मैं थोड़ा बदल भी रहा हूँ। मुझे लगता है राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों पर चर्चा के दौरान और इन पाठ्यपुस्तकों को देखने के बाद जो शीर्षक मेरी बातचीत का हो सकता है वह है-‘लोकतंत्र में शिक्षा, विवेक एवं अंधश्रद्धा का उपयोग’ या ‘विवेक एवं अंधश्रद्धा का संघर्ष’। इसको आप बच्चे के दिमाग में कब्जे की दृष्टि से भी देख सकते हैं। पहले मैं दो-तीन बातें स्पष्ट करना चाहूंगा कि वास्तव में इन किताबों में विभिन्न दृष्टिकोणों से घोर आपत्तिजनक चीजें हैं। साक्ष्य की दृष्टि से गलत, संकुचित, विभेदकारी, एकाधिक तरीके से खास तबकों के प्रति दुर्भावनापूर्ण। मैं समझता हूँ कि इनके उद्धरण आप लोगों को पता होंगे और बीच-बीच में ऐसे उद्धरण आएंगे भी। मैं उद्धरणों पर बात कम करूंगा हालांकि जहां जरूरत होगी वहां उद्धरण दूंगा लेकिन मैं व्यापक परिप्रेक्ष्य में अधिक बात करूंगा।

### लेखक परिचय :

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 की संचालन समिति सदस्य, दिगन्तर के सचिव, पुस्तक : शिक्षा और समझ शिक्षा के संदर्भ और विकल्प (संपादित); आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा

### सम्पर्क :

दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा,  
खो नागोरियान रोड, जगतपुरा,  
जयपुर - 302025

दूसरी बात मैं यह कहना चाहूंगा कि अभी यह बहुत स्पष्ट है कि, हमारे देश में एक बहुत तीव्र वैचारिक संघर्ष चल रहा है। मेरे विचार से जो लोग राजनीति और शिक्षा के संबंध को जानते हैं उनको इस संघर्ष की साफ-झलक मिल रही होगी। यह संघर्ष काफी समय से चल रहा है और प्रत्येक लोकतंत्र में इन संघर्षों के चलने की छूट होती है। लेकिन इसकी मर्यादाएं भी होती हैं। कोई भी राष्ट्र या समाज अपने आपको ठीक ढंग से चलाने के लिए कोई न कोई संहिताएं बनाता है। संहिताओं को भी संहिताओं के रूप में हम देख सकते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इन संहिताओं को आप मोटे रूप से दो हिस्सों में बांट सकते हैं। वैसे इन्हें बहुत सारे हिस्सों में बांट सकते हैं लेकिन जिस नजर से हम अभी बातचीत कर रहे हैं उसमें इन्हें दो हिस्सों में बांट सकते हैं। एक, वे संहिताएं जो एक दायरे में अपने स्वयं के विरुद्ध विचार की अभिव्यक्ति और संघर्ष की छूट देते हैं और दूसरी वे संहिताएं जो अपने विरुद्ध अभिव्यक्ति और संघर्ष की छूट बिल्कुल नहीं देतीं। जो संहिताएं अपने विरुद्ध वैचारिक प्रचार की छूट देती हैं वे भी वास्तव में एक्शन में इतनी छूट नहीं देतीं और वे एक दायरे में ही यह छूट दे सकती हैं। वे दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए ही एक दायरे में आपको उसकी छूट दे सकती हैं। यदि इस नजर से

आप देखें तो भारतीय संविधान बहुत खुला है और यह दूसरी प्रकार का संविधान है जो अपने विरुद्ध बात कहने की छूट देता है। वैचारिक अभिव्यक्ति और इस संघर्ष के लिए शिक्षा या राजनीति का उपयोग कहां तक किया जा सकता है और उसमें विचार और कर्म में कितना भेद रखने की जरूरत है ? ये कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिन पर बहुत गंभीरता से विचार करने की जरूरत होती है। और मेरा अपना यह मानना है कि ये किताबें वास्तव में इन्हें जो दायरा मिलना चाहिए उसका उल्लंघन काफी आगे तक और अपनी हद से ज्यादा कर जाती हैं। यह दूसरी बात है जिसे आज की चर्चा में इन पाठ्यपुस्तकों के बारे में मैं कहना चाहूंगा। अब इस बात को आगे बढ़ाने के लिए पहले हम थोड़ा-सा यह देख लें कि शिक्षा और लोकतंत्र में किस प्रकार का संबंध है ? यहां बैठे हुए सब लोग इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं इसलिए मैं बहुत विस्तार में नहीं जाऊंगा। लेकिन मैं तीन-चार चीजों का जिक्र इसके संबंध में अवश्य करना चाहूंगा।

मुझे जानने वाले लोग, उन्हें थोड़ा-सा ऐसा भी लग सकता है कि इसका जिक्र मैं हर बार करता हूं, लेकिन मैं समझता हूं कि इस समय भारत में इसका जिक्र करने की बहुत जरूरत है। एक बार इसी संदर्भ में जब यह देखने की कोशिश की गई कि शिक्षा को हमारे नीति संबंधी दस्तावेजों में किस नजर से देखते रहे हैं, और हमारे ये नीति संबंधी दस्तावेज कब से लोकतंत्र और शिक्षा को जोड़कर देखते रहे हैं तो मुझे ऐसा लगता है काफी शुरुआती दौर से, जब से शिक्षा को सारे लोगों तक पहुंचाने की बात हुई, तब से शिक्षा और लोकतंत्र के रिश्ते को काफी स्पष्टता से देखा जा रहा है।

1948 में राष्ट्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की बैठक के उद्घाटन भाषण में, उस वक्त के बंबई प्रदेश के गवर्नर ने, बहुत स्पष्ट रूप से अपने उद्घाटन भाषण में राष्ट्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद में एक बात यह रखी थी कि, 'अभी भारत का संविधान बन रहा है और वह जैसा भी बनेगा; अभी तक की राजनैतिक परिस्थिति को देखकर यह लग रहा है कि उसमें मतदाता का बहुत महत्त्व होगा। और जो भी नीतियां बनेंगी उन नीतियों में लोगों की राय वोट के माध्यम से झलकेगी। और लोकतंत्र सिर्फ वोट के आधार पर यह तय करने का नाम नहीं है। लोकतंत्र वोट के आधार पर सोच-विचार कर तय करने का नाम है। और प्रत्येक वोट में सोचने-समझने की काबिलियत नहीं होगी तो लोकतंत्र को बहुत गलत दिशाओं में भी ले जाया जा सकता है और शिक्षा ही वह काम लोकतंत्र के लिए कर सकती है कि इसके सभी वोटर सोच-समझ कर नीति निर्धारण में भागीदारी करें।' वहां एक प्रकार का संबंध लोकतंत्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए शिक्षा और जागरूक नागरिक का काफी रेखांकित किया गया है।

दूसरा जो दस्तावेज इसकी व्याख्या गंभीरता से कई पृष्ठों में करता है वो मुदालियर कमीशन की रिपोर्ट है जो 1952 में प्रकाशित हुई थी। और वह विशेष रूप से शिक्षा के उद्देश्यों को लोकतंत्र के संदर्भ में देखने की कोशिश करते हैं। और लोकतंत्र के संदर्भ में वे कह रहे हैं कि, 'लोकतंत्र में प्रत्येक नागरिक का महत्त्व अपने आप में उसमें अन्तर्निहित है। वह किसी बाहरी चीज पर आधारित नहीं है। और लोकतंत्र के नागरिकों की एक अलग किस्म कि जिम्मेदारी होती है जो किसी धर्मतंत्र या अधिनायकवादी राज्यों के नागरिकों पर नहीं होती कि, उनको नीतियों और राष्ट्र कैसे चले इसके बारे में अपने निर्णय करने होते हैं। यदि किसी देश में अधिनायकवादी तंत्र या धार्मिक तंत्र है तो उसमें यह निर्णय क्या होंगे और उनमें उनका स्वरूप क्या होगा; ये निर्णय पहले से ही कोई दूसरा तय करके रख देता है। लेकिन लोकतंत्र में नागरिक इसमें सीधी भागीदारी करते हैं। इसलिए उनके ऊपर इसकी जिम्मेदारी बढ़ जाती है।' और - आगे वे कहते हैं कि, 'स्पष्ट विचार करने की काबिलियत, अपने विचार को दूसरों तक रख देने की काबिलियत और कुप्रचार में और तथ्यात्मक रूप से कही गई बात में फर्क करने की काबिलियत लोकतंत्र के संदर्भ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि नागरिक ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से विचार नहीं कर सकते या उसको अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं तो' वे इन्हीं शब्दों का उपयोग कर रहे हैं; आज से 50 वर्ष से अधिक पहले कि, 'अभी जो मीडिया के संसाधन उपलब्ध हैं उसमें कोई भी डेमोगॉग, उसमें कोई भी व्यक्ति जो लोगों को भ्रमित करना चाहता है वह वक्तृता के जंजाल में, अपने बोलने के जंजाल में, बोलने की ताकत के बल पर लोगों की भावनाएं भड़काने के एवं एक दूसरे के विरुद्ध कर सकता है और अपने तुच्छ उद्देश्यों को साधने के लिए लोगों को अपने साथ ले जा सकता है।' दूसरी बात उसमें कही गई है कि, 'इसलिए शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण काम किसी भी लोकतंत्र में ये है कि वह अपने नागरिकों में सुविचार करने की या सुसंगत या विवेकशील चिन्तन करने की क्षमता को बढ़ावा दे और उसके प्रत्येक नागरिक तक ये बात पहुंचे।'

मैं बहुत जल्दी-जल्दी कुछ चीजें स्थापित करने की कोशिश कर रहा हूं। वर्तमान काल में यदि आप शिक्षा दर्शन में लिखी जाने वाली चीजों को देखें जो पिछले लगभग 10-15 वर्षों से लिखी जा रही हैं। ये विचार सारी दुनिया में शिक्षा के बारे में सोचने वाले लोगों के सामने काफी गंभीर रूप से फिर से आए हैं। वर्तमान में इसकी एक स्थापना यह है, जो बिल्कुल मुदालियर कमीशन से मिलती-जुलती है कि, लोकतंत्र लोगों की अपनी सोचने-विचारने की काबिलियत पर निर्भर करता है और उसमें न्याय और समता इस बात पर निर्भर करते हैं कि लोग स्वयं अपने अधिकारों की और दूसरों के अधिकारों की रक्षा कर सकें। दोनों बातें, न्याय की भावना

भी हो और अपने अधिकारों की रक्षा भी कर सकें। और इसके लिए जरूरी है कि वे निर्णय प्रक्रियाओं में भागीदारी करें। लोकतंत्र में निर्णय प्रक्रियाओं में भागीदारी विचार के आदान-प्रदान से सहमत करने के तरीकों से ही होती है। वह किसी प्रकार के बल प्रयोग से या लालच से नहीं होनी चाहिए। हमारे भारतीय लोकतंत्र में बल प्रयोग या लालच से होती है कि नहीं होती है ये अलग सवाल है लेकिन विचार के तौर पर नहीं होना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ और यदि सब लोगों को किसी प्रकार के विचार में या निर्णय प्रक्रिया में शामिल करना है तो उसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि लोगों के पास ऐसे मौके हों कि वे अपनी बात कह सकें, अपना मत रख सकें, मत बना सकें और उस मत को किन्हीं तथ्यों एवं तर्कों पर आधारित बना सकें। जब वे इस ढंग से विचार करेंगे तभी वे अपनी बात कह पाएंगे। यह चिन्तन यह कहता है कि जिन लोगों में यह काबिलियत पैदा नहीं होती वे लोग लोकतंत्र में हाशिए पर चले जाते हैं।

लोकतंत्र कोई ऐसी व्यवस्था नहीं होती जिसको बाहर से चलाने की जिम्मेदारी किसी और की है। एक वैचारिक संघर्ष अपने लिए, अपने समाज को मोड़ने के लिए सतत चलता रहता है। और उसमें जिन लोगों में यह काबिलियत पैदा नहीं होती उनको हाशिए पर हो जाना पड़ता है। क्योंकि कोई दूसरे लोग उनके स्पेस को हड़प लेते हैं। यदि ऐसा है तो लोग इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि जो सरकारें अपने आप को लोकतांत्रिक सरकारें कहती हैं उनका कर्तव्य है कि वे प्रत्येक नागरिक में विवेकसम्मत विचार करने की काबिलियत, अपनी बात को स्पष्ट रूप से रखने की काबिलियत, उसके लिए मजबूती से संघर्ष करने की काबिलियत पैदा करें। और जो सरकारें ऐसा नहीं करतीं वे किसी न किसी प्रकार का छद्म कर रही हैं, वास्तव में वे लोकतांत्रिक सरकारें नहीं हैं। वे इस बात का दावा करती रह सकती हैं लेकिन हैं नहीं। लोकतंत्र में विवेकशील चिन्तन और सरकार के रवैये के सवाल को हम इस फ्रेम वर्क में देख सकते हैं। अब एक दूसरी महत्वपूर्ण बात इसमें से उभरती है वह है अंध श्रद्धा की जिसको मतारोपण कहते हैं। लोकतंत्र में मतारोपण और विवेकशील चिन्तन का विभेद करना और दोनों में से किसी एक को चुनना और मजबूती से चुनना बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। जब हम बहुत सरल ढंग से यह बात करते हैं तो वह बहुत हल्की हो जाती है। बहुत सरल ढंग से यदि हम विवेकशील चिन्तन को परिभाषित करना चाहें या चार-पांच बिन्दु में रखना चाहें तो कुछ इस प्रकार से हो सकते हैं -

हम जिस किसी भी चीज को स्वीकार करते हैं या मानते हैं या किसी भी निर्णय पर पहुंचते हैं, हमारे खुद के चिन्तन के अनुसार उसके लिए कोई न कोई तार्किक आधार या साक्ष्य होने चाहिए। हम

जिस बात को मानते हैं उसके पीछे एक आग्रह होना चाहिए कि हम इसको क्यों मान रहे हैं। यह हमारे अपने स्वयं के विचार के दायरे में हो और सुसंगत हो, विचारों में आपस में विरोधाभास न हो। दूसरी बात यह है कि हम जिस चीज को मानते हैं या उसको मानने के जो भी आधार हों उन्हें हम सार्वजनिक रूप से दूसरे लोगों से शेयर कर सकें। वे ऐसी भाषा में कहने के काबिल होने चाहिए कि हम उन्हें दूसरों को बता सकें। यदि मेरे पास ऐसे आधार हैं कि उनकी सच्चाई मैं तो जानता हूँ लेकिन ये सच्चाई मेरे घट में निवास करती है और उसे मैं दूसरों को बता नहीं सकता, अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय सच्चाईयां विवेकशीलता के दायरे से बाहर होती हैं। मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ कि अनिर्वचनीय सच्चाईयां काम की नहीं होतीं, आप उनको मत मानिए। मैं सामान्यरूप से यह कह रहा हूँ कि वह विवेकशील चिन्तन के दायरे से बाहर होती हैं। अतः विवेकशील चिन्तन की सच्चाईयां अनिर्वचनीय न होकर वचनों के माध्यम से शेयर करने वाली हों।

तीसरी बात यह है कि उनको सही या गलत मानने के आधार भी सार्वजनिक रूप से शेयर किए जाने चाहिए। सार्वजनिक रूप से शेयर करने का मतलब है कि दूसरे लोगों को उनके विरुद्ध तर्क दे सकने की छूट है। उनको इस छूट के लिए आमंत्रित किया जाता है कि यदि आप इस बात को उचित नहीं मानते हैं तो अपनी बात को कह सकते हैं और मैं उनको तभी तक मानूँ जब तक मैं उनकी आपत्तियों का निराकरण करने की स्थिति में होऊँ। जिस दिन वे विचार आपत्तियों के निराकरण करने में सक्षम नहीं रह जाएं उस दिन उन्हें पुनर्विचार के लिए खोला जाए। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यदि हम विवेकशील चिन्तन की बात करते हैं तो उसमें कम से कम चार शर्तें हैं : कि कोई न कोई साक्ष्य या आधार होने चाहिए। साक्ष्य और आधार को दूसरों से शेयर कर सकें। शेयर करने में दूसरों को आपत्ति या आधारों की व्याख्या करने की मांग करने की स्वतंत्रता हो। और यदि आपत्तियों का निराकरण हम नहीं कर सकें तो उस पर पुनर्विचार करने की स्वतंत्रता हो। इस बात पर ध्यान दीजिए की इसमें दो तीन बातें अन्तर्निहित हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बात कहने का हक है। प्रत्येक व्यक्ति की बात का समान बल है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी बात को दूसरों के सामने रख सकता है। इसमें संवाद का रास्ता खुलता है।

दूसरी बात, अंधश्रद्धा की बात करते हैं तो, इस तरफ में आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा, जब अंधश्रद्धा का तरीका अपनाते हैं तो उसमें किसी चीज को अंतिम और पूर्ण सत्य के रूप में सामने रखा जाता है। और उसे किसी प्रकार के तर्क के आधार पर या साक्ष्य के आधार पर स्थापित करने के बजाए, किसी सत्ता के आधार पर, वह सत्ता किसी महान चिन्तक की हो सकती है,

किसी वैज्ञानिक के नाम के आधार पर हो सकती है, किन्हीं मान्यताओं के आधार पर हो सकती है, किसी ग्रंथ के आधार पर हो सकती है या किसी भी अन्य किसी स्रोत के आधार पर हो सकती है जिसकी जांच मैं खुद नहीं कर सकता। मुझे उसकी विद्वता या श्रद्धा के आगे नतमस्तक हो कर स्वीकार कर लेना चाहिए। ये अंधश्रद्धा के स्वरूप का हिस्सा है। किसी विचार या मान्यता को अंतिम सत्य के रूप में रखा जाएगा, उसको किसी ऑथोरिटी के रूप में रखा जाएगा कि उसकी जांच आप नहीं कर सकते और उसमें पुनर्विचार की मनाही की संभावना, बल्कि पुनर्विचार की मनाही होती ही है। आप इस पर खुलकर बात नहीं कर सकते, इसके ऊपर आप तर्कपूर्ण तरीके से बात नहीं कर सकते। अंध श्रद्धा में इस सब की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती।

मैंने विवेकशील चिन्तन और अंधश्रद्धा की बात जानबूझ कर यहां इसलिए की है ताकि हम यह देख सकें कि इस फ्रेम वर्क के तहत लोकतंत्र में शिक्षा के संदर्भ में पाठ्यपुस्तक का क्या स्थान होना चाहिए ? इस वक्त हमारे देश में पाठ्यपुस्तक का जो स्थान है वह हम सबको पता है। इस वक्त भारत में पाठ्यपुस्तक का स्थान वास्तव में एक धर्म ग्रंथ के जैसा स्थान है। माना यह जाता है कि पाठ्यपुस्तकों में कुछ सत्य ज्ञान है, जो वहां से विद्यार्थियों के पास जाएगा और अधिकतर विद्यालयों में शिक्षकों की भूमिका उस धर्म ग्रंथ को व्याख्यायित करने वाले के रूप में है। वह उस ज्ञान को बच्चों तक पहुंचाने के लिए एक माध्यम का काम करेगा, मध्यस्थ का काम करेगा और बच्चों को पाठ्यपुस्तकों को समझाने का काम करेगा। इसलिए पाठ्यपुस्तक इस समय सत्य का पिटारा बन गई हैं। और माना यह जाता है कि उसमें जो कुछ कहा गया है वह महत्त्वपूर्ण है और बल्कि अंतिम सत्य है। यदि आप इस दृष्टि से देखते हैं तो पाठ्यपुस्तक की मार बहुत दूर तक जाती है। बच्चे का दिमाग जब निर्माण हो रहा होता है, उस उम्र में, उस वक्त उसको ऐसी चीजें, ऐसे तथ्य, ऐसी जानकारियां, ऐसे मत उसके सामने रखे जाते हैं जिसकी विवेचना करने की बजाय अंधश्रद्धा के रूप में उसे मन में शामिल कर लें। इसलिए जिंदगी भर वह किस तरह निर्णय लेगा; उसके ढंग इसी उम्र से पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से उसके मन में आरोपित किए जाते हैं। बच्चे के मन को एक खास प्रकार से अनुशासित करने के प्रयास उसमें निहित होते हैं।

पाठ्यपुस्तक हमेशा ही शिक्षा में विचार का या सीखने का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण रहेगा। लेकिन पाठ्यपुस्तकों पर चर्चा का एक आधार ये हो सकता है कि वह अंधश्रद्धा का विवरण है या वह विवेकशील चिन्तन का उपकरण बनता है ? आखिर में मैं थोड़ी-सी बात यहां यह भी करूंगा कि किताबों को हम चिन्तन के उपकरण के रूप में या विवेकशील चिन्तन के रूप में किस तरह से बदल सकते

हैं और अंधश्रद्धा के दायरे से किस तरह हटा सकते हैं ? अब मैं पांच बातें इन किताबों के बारे में बहुत ही संक्षेप में कहना चाहूंगा।

मैंने इन पाठ्यपुस्तकों में से एक किताब को बहुत गंभीरता से पूरी देखा है और सामाजिक विज्ञान की 6 से 8 वीं तक की किताबों में से बहुत सारे उद्धरण देखे हैं। सरसरी नजर से और भी बहुत सारी चीजें देखी हैं। मुझे इनमें जो बातें महसूस होती हैं, एक किताब का गंभीर अध्ययन और बाकी को सरसरी नजर से देखने पर, पहली बात तो यह है कि ये किताबें अतीतोन्मुखी हैं। ये किताबें यह नहीं कह रही हैं कि आज हमारी क्या सामर्थ्य है और हम किस दिशा में जा सकते हैं ? हम कैसे निर्णय ले सकते हैं ? हम क्या कर सकते हैं ? ये किताबें बार-बार हमें इस तरह की चीजों के लिए प्रेरित करती हैं कि हम या हमारे पूर्वज, मैं यह उद्धरित करके कह रहा हूं, कितने महान थे। उन्होंने क्या कुछ किया और बल्कि सभी कुछ उन्होंने किया बाकी लोगों ने या तो नकल की या किसी प्रकार की बेईमानी की। अधिकतर जो सब कुछ किया वो उन्होंने ही किया।

मुझे इस संदर्भ में, इससे मिलता-जुलता आपातकाल के जमाने का एक वाक्या याद आ रहा है। आप में से बहुत से लोगों को याद होगा कि आपातकाल के जमाने में दिल्ली में एक कालपात्र गाड़ा गया था और उसमें स्वतंत्रता के इतिहास को रखने की कोशिश की गई थी। उसमें जो साग्रगी रखी गई थी उसमें कुछ ऐसी बात थी कि एक खास परिवार ने भारत को स्वतंत्रता दिलाई। उस कालपात्र की मजाक उड़ाने के लिए चो. रामास्वामी ने मद्रास में पांच हजार लोगों के सामने डेढ़ फुट गहरे गड्ढे में अपना एक कालपात्र डाला और उसमें लिखी बातें लोगों को पढ़कर सुनाई। उसमें बहुत सारी बातें थीं कि, हिमालय पहाड़ मैंने खड़ा किया, भारत की जमीन मैंने बनाई, हिन्द महासागर को मैं लेकर आया था, सिकन्दर को मैंने भारत से बाहर भगाया था और अंग्रेजों को भी मैंने भगाया था। तो चो. रामास्वामी सिकन्दर से लेकर अंग्रेजों तक भारत की रक्षा करने के लिए एकदम तैयार खड़े थे। ये किताबें सारी दुनिया के संदर्भ में कुछ-कुछ ऐसी बातें देना चाहती हैं कि भई जितनी भी ज्ञान-विज्ञान-समझ इत्यादि की बातें की हैं वो हमारे पूर्वजों ने की हैं। ये बहुत स्पष्ट स्वर इन किताबों से उभर कर आता है।

दूसरी बात जो मैं आपसे कहना चाह रहा था वह भी इन पाठ्यपुस्तकों से बहुत स्पष्ट रूप से उभरती है। वह है इन पाठ्यपुस्तकों में चिन्तन का स्पष्ट नकार और अंध श्रद्धा की स्थापना। ये किताबें पूरी तरह से अंध श्रद्धा पर स्थापित किताबें हैं। इसके प्रमाण के रूप में, इसके लिए मुझे कोई गहन विश्लेषण नहीं करना पड़ा, ये उन लोगों ने स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है; मैं आपको पढ़कर सुनाता हूं।

आपको भी पता चल जाएगा। ये कहते हैं कि, “जागृत समाज सुशिक्षित, स्वावलंबी, स्वाभिमानी एवं संगठित होता है।” और फिर, “छत्रपति शिवाजी ने गुलामी के कालखंड में समाज जागरण एवं संगठन के द्वारा एक हिन्दु पाद पदशाही की स्थापना की।” तो इसमें किस समाज की बात कर रहे हैं और गुलामी किसको कह रहे हैं ? वह यहां पर एकदम स्पष्ट है और किसको संगठित होना है, यह भी स्पष्ट है। यह वह भारतीय समाज नहीं है जिसमें हम रह रहे हैं। शायद यहां इसमें भारतीय समाज के किसी खास हिस्से की बात अधिक है। आगे ये कह रहे हैं कि सामाजिक जागरूकता कैसे करें ? मैं चाहूंगा कि ये अंश आप ध्यान से सुनें, “सामाजिक जागरूकता का कार्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति में भारत माता के प्रति भक्ति, श्रद्धा एवं निष्ठा का भाव भरने से होगा। राष्ट्रीय महापुरुषों, पवित्र स्थलों एवं राष्ट्रीय चीजों के प्रति श्रद्धा एवं आदर का भाव भरना होगा। देश की रक्षा एवं समाज की सेवा के लिए सर्वस्व समर्पण की क्षमता पैदा करनी होगी। ये सब करने के लिए शिक्षा, प्रिन्ट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, खेल एवं मंचीय कार्यक्रमों तथा अन्य गतिविधियों द्वारा भारत माता की गौरव गाथाओं, समाज की प्राचीन गौरवशाली परंपराओं को दिखा-सुनाकर अपनापन स्थापित करना होगा।”

मुझे ऐसा लगता है कि यह पैराग्राफ अपने आप में सारी बातों को स्पष्ट कर देता है। एक, जिस समाज की ये बात कर रहे हैं और जिसको संगठित करने की बात कह रहे हैं, वह संपूर्ण भारतीय समाज नहीं होकर के उसका एक हिस्सा है। जिस तरह से संगठित करने की बात कर रहे हैं उसमें एक बार भी जानना, विचार करना, विवेचना करना, उसके ऊपर चिन्तन करना जैसे शब्दों का पूर्ण अभाव है। श्रद्धा मन में बैठाना, तैयार करना, मुख्य बात है। प्रत्येक प्रकार के साधनों को उपयोग करने का आह्वान है और शिक्षा का नाम उसमें सबसे पहले है। तो शिक्षा को किस नजर से देखा जा रहा है ? अपनी विचारधारा के प्रचार के रूप में शिक्षा को देखा जा रहा है, यह एकदम स्पष्ट है। और इन किताबों को मेरे ख्याल से, विशेष रूप से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में जो कुछ भी आ रहा है, उसके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। जहां पर नागिन का नाग साइकिल के नीचे आकर मर जाए तो वह चार दिन तक मारने वाले के पीछे-पीछे भागती रहती है। इस प्रकार की कहानियां दिनभर लगातार दिखाई जाती हैं। उसके साथ मिलाकर इन किताबों को पढ़ने से दोनों में तालमेल और संदर्भ अधिक स्पष्ट और अधिक उजागर हो जाता है। इसके तुरंत बाद इसमें महिला सशक्तिकरण पर एक हिस्सा है। और मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि उसमें महिला सशक्तिकरण के बारे में भी स्तुति गान है। स्तुति गान किनका ? प्राचीन भारत में बहुत सारी साहसी महिलाएं थीं। उनके नामों से यह पूरा पाठ भरा है। यहां महिलाओं का समाज में स्थान

क्या है ? महिलाओं के साथ समाज में इस तरह की परिस्थितियां क्यों पैदा होती हैं ? महिला सशक्तिकरण का अर्थ क्या है ? उसकी जरूरत क्या है ? इन सब मुद्दों पर विवेचना की कोई बात इस पाठ्यपुस्तक में नहीं है। बच्चों को यह बताने की कोशिश की जा रही है कि कौन-कौनसी महिलाएं थीं जो या तो विदुषी थीं या शक्तिशाली थीं और उनके नामों की माला तुम रटो। ये बिल्कुल उस परिपाटी में है जिसमें आप विष्णु सहस्रनामा या कोई भी सहस्रनामा का पाठ करें। और आप समझें कि आपके अन्दर ज्ञान का अभ्युदय हो रहा है। यह बिल्कुल इस परिपाटी के साथ है। महिलाओं की स्थिति ऐसी क्यों है ? बहुत साफ-सुथरे ढंग से यह बताया जा रहा है कि विदेशी आक्रांताओं एवं गुलामी के काल में भारतीय धर्म एवं संस्कृति को बार-बार नष्ट करने का प्रयास किया गया। आक्रांताओं के कारण यहां पर नारी सम्मान को गहरी चोट पहुंची। परिणामस्वरूप नारी वर्ग में पवित्रता एवं शील की रक्षा के लिए सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा या कन्या वध जैसी कुप्रथाएं प्रचलित हो गईं। अर्थात् हमारे यहां तो पहले सब कुछ बहुत अच्छा और बहुत बढ़िया था। विदेशी आक्रांताओं ने आकर इस समाज को बिगाड़ दिया और विदेशी आक्रांता कौन हैं ? यह इस किताब को पढ़ने से आपको बिना नाम लिए एकदम स्पष्ट हो जाता है।

दूसरी बात है अतीत-नुखता, अंध श्रद्धावादी, संकुचित नजरिया। यह बात मैं पहले कर चुका हूं कि लगातार आपको लगेगा कि हिन्दू संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है और वही पूरा का पूरा समाज है जिसको संगठित होने की जरूरत है। यदि इस रूप में भारतीय समाज और संस्कृति को देखा जाएगा तो ये विभेदकारी होगी ही। समाज को आपस में लड़ाने और बांटने के काम में ये पुस्तकें मदद करेंगी।

मैं आपके सामने एक बात और रखना चाहता हूं। मुझे पता नहीं है कि ये किताबें मूर्खतापूर्ण हैं या अतिचालाकीपूर्ण। मैं ये इसलिए कह रहा हूं कि इनमें जो बात कही गई है वे इतनी पारदर्शी रूप से बेबकूफीपूर्ण हैं जैसे कि यहां कि शल्यक्रिया इतनी उन्नत थी कि आदमी के सिर पर हाथी का सिर जोड़ा जा सकता था। ये मूर्खतापूर्ण बात लगती है और ऐसी बातें इन किताबों में जगह-जगह भरी पड़ी हैं। यदि कोई आदमी समझदार होगा तो इस प्रकार की पारदर्शिता के साथ इतनी मूर्खतापूर्ण बात को क्यों लाएगा ? लेकिन थोड़ा पलट के जब दुबारा सोचते हैं तो ये भी सोचते हैं कि ये किताब किसको मुखातिब होकर लिखी जा रही है ? आपको मुखातिब होकर तो नहीं लिखी जा रही है। आप तो यह सब नहीं मानने वाले हैं। तो जो इन किताबों का पाठक वर्ग है उसके ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा ? यह वह पाठक वर्ग है जिसकी बात मैंने पहले कही है कि जिसका मन अभी आकार ले रहा है, जो दुनिया को देखने का

नजरिया इस उम्र में बना रहा है। यदि ये किताबें यह सोच कर बनाई गई हैं तो उनका काम तो हो गया। लेकिन कम से कम अभी तक मैं तय नहीं कर पा रहा हूँ कि दोनों में से कौनसी मंशा से ये किताबें लिखी गई हैं।

आखिर में मैं दो-तीन बातें इस बारे में कहना चाहूँगा कि हम इन किताबों के लिए क्या कर सकते हैं ? इस तरह की किताबों का हम प्रतिकार कैसे कर सकते हैं ? और इसके लिए मैं जानबूझ कर कक्षा और शिक्षा के दायरे में रहना चाहूँगा। इसका यह आशय नहीं है कि मैं यह कह रहा हूँ कि आप इस पूरी मुहिम का प्रतिकार सिर्फ कक्षा के दायरे में रहकर ही कर सकते हैं। अन्य बहुत से तरीके हैं जो विनोद जी ने बताए। राजनैतिक और सामाजिक कार्यक्रम और शिक्षा में विभिन्न प्रकार की चीजों के माध्यम से इनका प्रतिकार किया जा सकता है लेकिन मैं शिक्षा और कक्षा के दायरे में ही बात करूँगा। यदि थोड़ी देर के लिए इस पर ध्यान केन्द्रित करके देखें तो हम क्या कर सकते हैं ? मुझे लगता है कि एक तो हमें शिक्षा में पाठ्यपुस्तक का स्थान क्या हो ? इस पर नए सिरे से, उसका शिक्षाशास्त्र में या शिक्षण शास्त्र में क्या स्थान है, इसके बारे में हमें एक बड़ी मुहिम चलाने की जरूरत होगी कि पाठ्यपुस्तकों को अंतिम सत्य के पिटारे के रूप में देखने की बजाय पाठ्यपुस्तकों को अपने आस-पास की दुनिया और ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया में, शामिल होने की वस्तु के रूप में शामिल होने के एक साधन और कार्यक्रम के रूप में उपस्थित किया जाए। इसके लिए जरूरी होगा कि पाठ्यपुस्तक में जो कुछ लिखा हुआ है उस पर सवाल उठा सकें, उसके ऊपर विचार कर सकें, उसको गलत कह सकें और उस पर बहस कर सकें; शिक्षा में हमें इस बात की परिपाटी को विकसित करने की जरूरत होगी। अभी एनसीईआरटी की नई पाठ्यपुस्तकें आप देखें तो इस बात को बहुतायत में पाएंगे कि वे पाठ्यपुस्तक बच्चे को सोचने के लिए प्रेरित करती हैं, वे कोई खास प्रकार की जानकारी को उसके मन में स्थापित करने की बजाए बहुत प्रकार की चीजें उसके सामने रखकर और विभिन्न प्रकार की खोज के तरीके सिखाकर, ये देखने की कोशिश करती हैं कि तुम अपना मत बनाने की कोशिश करो और उसके पक्ष में अपनी बात रखने की कोशिश करो और इसका अभ्यास करने की कोशिश करो। मैं एक बात तो यह कहना चाहता हूँ कि जब तक पाठ्यपुस्तक अंधश्रद्धा का विषय रहेंगी तब तक उसमें ऐसी बातें लगातार आती रहेंगी। मुझे लगता है कि इस दिशा में इस पर कुछ काम करने की जरूरत है।

दूसरी बात यह है कि इस वक्त पाठ्यपुस्तक का सारा कार्य-व्यापार राज्य के हाथों में केन्द्रित है। यह शायद जरूरी है कि पाठ्यपुस्तकें एक से अधिक प्रकार की हों और उस पर विवेचना करने वाले कुछ जागरूक समूह या जागरूक निकाय हों। अब यह

बड़ी विचित्र स्थिति है कि निजी स्कूल तो एक से अधिक प्रकार की किताबें काम में ले सकते हैं लेकिन सरकारी विद्यालयों को एक ही पाठ्यपुस्तक काम में लेनी पड़ेगी। हमें पाठ्यपुस्तकों के इस दायरे को खोलने की जरूरत पड़ेगी। कई बार यह कहा जाता है कि पाठ्यपुस्तक ही एक मात्र चीज है जो बच्चा देखता है इसलिए इसका महत्त्व इतना ही रहेगा घट नहीं पाएगा। मुझे लगता है कि हमें इससे पार जाना पड़ेगा। हमें स्कूल में पुस्तकालय और एक से अधिक प्रकार की पाठ्यपुस्तकें पढ़ाने की व्यवस्थाओं की तरफ बल देना होगा। यदि हम यह मानकर चलें कि पाठ्यपुस्तक एक ही रहेगी और विद्यालय में पुस्तकालय नहीं होगा और वही पाठ्यपुस्तक हम बेहतर बनाने की और सर्वांग-संपूर्ण बनाने की कोशिश करेंगे तो पाठ्यपुस्तक को मतारोपण के उपकरण के रूप में काम में लेने की इसकी ताकत सतत रूप में बनी रहेगी। इसलिए हमें पाठ्यपुस्तक की उस ताकत को कम करने की जरूरत पड़ेगी।

हमारे यहां धर्म और मान्यताओं की विवेचना का शिक्षा में जो नजरिया है वह बहुत डरा हुआ और संकुचित है। हम लोग अभी भी किसी धर्म और मान्यताओं पर विवेकशील नजरिए से सवाल उठाने में बहुत डरते हैं। और इसीलिए धर्म को शिक्षा में लाने से हम लोग इस कदर डरे हुए हैं, उसका एक कारण यह है कि आपको सारे धर्मों की सारी बातें अच्छी और सही बोलनी पड़ेंगी। यदि ऐसा नहीं किया गया तो इससे धार्मिक संस्थाओं और लोगों को नाराजगी होगी और समाज में विद्वेष बढ़ेगा। ऐसी स्थिति में क्या हम शिक्षा में सवाल उठाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दे सकते हैं ? यह प्रवृत्ति केवल पाठ्यपुस्तकों में शामिल सामग्री पर ही नहीं रह कर राजनैतिक विचारधाराओं पर सवाल उठाने तक, महापुरुषों द्वारा लिए गए निर्णयों पर; उनके व्यक्तिगत जीवन पर तो सवाल उठाने की जरूरत मुझे नहीं लगती लेकिन सामाजिक जीवन में उनके स्टेण्डर्ड पर सवाल उठाने में कोई समस्या नहीं होनी चाहिए। चाहे फिर वे महात्मा गांधी हों, चाहे राजीव गांधी हों, चाहे इंदिरा गांधी हों या सावरकर हों या जिन्ना हों। इस प्रकार संतों, पीरों, पैगम्बरों और धर्म ग्रंथों पर भी सवाल उठाने की परिपाटी को हम जब तक बढ़ावा नहीं देंगे तब तक दिमाग पर अंध श्रद्धा के हावी होने वाली कोशिशें होती रहेंगी। हम ऐसा नहीं कर सकते हैं कि अंध श्रद्धा को किताब से तो निकाल बाहर करें लेकिन समाज में उसको बनाए रखें या समाज में उसको नहीं छेड़ें। ये दुतरफा सिद्धान्त हम काम में नहीं ले सकेंगे। हमें पहचानना होगा कि नित नए पैदा होने वाले संत (आशाराम, रामदेव, श्रीश्री आदि) टेलीवीजन पर एक-मुखी रुद्राक्ष बेचने वाले व्यापारिक संस्थान और किताबों में अंधश्रद्धा भरने वाली ताकतें एक ही छद्म के अनेक रूप हैं। ये सब आम आदमी को भ्रमित करके दबाए रखने की अटकलें हैं। ♦